गिरीश कारनाड

मन की अबूझ लिखावटें

प्रयाग शुक्ल

कम ही लेखक ऐसे होते हैं जिनकी कृतियाँ विचार और विमर्श का एक स्थायी 'संदर्भ' बन जाती हैं। उनमें उठाए हुए प्रश्न/प्रसंग कुछ इतने अर्थ-भरे, विचलित करने वाले भी, होते हैं कि उन्हें लेकर एक मंथन हमेशा ज़ारी रहता है। किसी सरल उत्तर या समाधान को प्रस्तुत करने की जगह वे विचार-सरणियों को सक्रिय करने वाले होते हैं; और हाँ, उन कृतियों का एक 'काम' यह भी होता है कि ये मानवीय न्याय के पक्ष में हमें अधिकाधिक खड़ा करती हैं। किसी 'भूल-ग़लती' को या 'सही-ग़लत' को पहचानने में हमारी मदद तो करती ही हैं। गिरीश कारनाड (1938-2019) ऐसी ही कृतियों के प्रणेता थे। *तुग़लक* सहित उनके अन्य नाटक, जब लिखे गये तो तब से लेकर आज तक, विमर्श और बहसों को जन्म देते आये हैं। आगे भी देते रहेंगे क्योंकि वे 'सत्ता की भूख' और उसकी निरंकुशता को गहराई में जाकर परखते हैं। स्त्री पर पुरुष के 'स्वेच्छाचारी अधिकार' को प्रश्नांकित करते हैं। ब्राह्मणवादी, तथाकथित 'कुलीन' या दैवी विधान को एक छल की चीज़ मानते हैं। गिरीश कारनाड के स्त्री-पुरुष पात्र यह भी रेखांकित करते हैं कि जिन्हें मानवीय प्रवृत्तियाँ कहा जाता है, उन्हें प्रकृति-प्रदत्त मानकर बख़्शा नहीं जा सकता है— अन्यथा मनुष्य समाजों की 'मानवीयता' ही ख़तरे में पड़ जाएगी। ये पंक्तियाँ लिखते हुए ज़ाहिर है कि गिरीश कारनाड की लिखी हुई नाट्य कृतियाँ— *तुग़लक, ययाति, हयवदन, अग्नि और बरखा* आदि मेरे

दिमाग़ में घूम रही हैं, जिनमें से कुछ को पढ़ा भी है, और उनके एक से अधिक मंचन भी देखे हैं। यहीं यह भी नोट कर लेना चाहता हूँ कि जो विमर्श उनकी कृतियाँ बनाती हैं, वे कोरी सैद्धांतिक, वैचारिक पृष्ठभूमि वाले नहीं हैं : उनके पीछे हाड़-मांस के पात्र हैं, शारीरिक उपस्थितियाँ हैं, कोमल क्रूर मांसल स्पर्श हैं, और हैं, मनुष्य मन की कुछ अबूझ लिखावटें भी जिनकी कुंजी आसानी से हाथ नहीं लगती है। इन 'अबूझ लिखावटों' को पढ़ने का, डिकोड करने का एक उद्यम भी वहाँ है। प्रश्न भी कुछ भरभराते हुए 'दुविधा' के साथ आते हैं— वे इतने दो टूक नहीं हैं कि विस्मय की, उत्कंठा, उत्सुकता की दुनिया खो जाए और चीज़ों को धीरज और प्रक्रिया में समझने की बनिस्बत, हम अपने भीतर जल्दी से किसी निष्कर्ष पर पहुँचने की उतावली पाल लें। कारनाड की कृतियों की एक ख़ूबी यह भी है कि उनमें वह ज़रूरी कथा-रस भी हमेशा बसा-बना रहता है, जो एक 'सरसता' की सृष्टि करता है, और उनके धारदार संवाद, उस रस-धार को तीखा और तीव्र किये रहते हैं।

गिरीश कारनाड का सब तरह का कामकाज इतना अर्थपूर्ण और मानवीय अनुभवों से इतना सम्पन्न है, कि आने वाली पीढ़ियाँ भी इन्हें कई तरह से याद करती रहेंगी। उन्हें खोजेंगी, और उनके लिखे हुए, और किये हुए, का साथ चाहेंगी। कारनाड ने अपना पहला नाटक *ययाति* 23 वर्ष की उम्र में लिखा था, और *तुग़लक* जैसा नाटक भी 26 वर्ष की आयु में, जो अब मील का पत्थर बन चुका है। यहीं से मिथकों और इतिहास में जाने की उनकी यात्रा का आरम्भ होता है, पर यह यात्रा गड़े मुर्दे उखाड़ने की नहीं थी— वह तो मिथकीय और ऐतिहासिक चरित्रों की कुछ इस तरह की 'पड़ताल' की थी, जो वर्तमान के लिए तो प्रासंगिक हो, भविष्य में भी प्रासंगिक बनी रहे। सत्ता का खेल, स्त्री-पुरुष संबंध, सामाजिक विसंगतियाँ, उनके लेखन में एक विमर्श रचते हुए प्रकट हुए। ब्राह्मणवादी व्यवस्था को भी उन्होंने प्रश्नांकित किया।

कारनाड ने अपना पहला नाटक *ययाति* 23 वर्ष की उम्र में लिखा था, और *तुग़लक* जैसा नाटक भी 26 वर्ष की आयु में, जो अब मील का पत्थर बन चुका है। यहीं से मिथकों और इतिहास में जाने की उनकी यात्रा का आरम्भ होता है, पर यह यात्रा गड़े मुर्दे उखाड़ने की नहीं थी— वह तो मिथकीय और ऐतिहासिक चरित्रों की कुछ इस तरह की 'पड़ताल' की थी, जो वर्तमान के लिए तो प्रासंगिक हो, भविष्य में भी प्रासंगिक बनी रहे। सत्ता का खेल, स्त्री-पुरुष संबंध, सामाजिक विसंगतियाँ, उनके लेखन में एक विमर्श रचते हुए प्रकट हुए। ब्राह्मणवादी व्यवस्था को भी उन्होंने प्रश्नांकित किया।

वे एक अप्रतिम नाटककार थे। कुशल अभिनेता थे। कुशाग्र संस्कृतिकर्मी थे। अच्छे वक्ता थे। अपनी बातों को विश्वासपूर्वक, बौद्धिक-वैभव के साथ रखना जानते थे। थियेटर और फ़िल्म की दुनिया में कई युवाओं के प्रेरणास्रोत थे। लिखते कन्नड़ में थे, पर, अनुवादों के माध्यम से वह अखिल भारतीय स्तर पर पहचाने गये। पढ़े गये। साठ के दशक में विजय तेंदुलकर, मोहन राकेश, बादल सरकार की जो पीढ़ी उभरी, वे उसके अभिन्न सदस्य थे। इन चारों नाटककारों ने भारतीय नाटकों और रंगमंच की दशा-दिशा बदली, और उसे ऐसी भूमि पर खड़ा किया जो 'यथार्थ' की थी। विमर्श की थी। और जो इतनी प्रयोगशील भी थी कि उसमें भारतीय समाज की कई तरह की ध्वनियाँ और छवियाँ देखी-पढ़ी जा सकें। और मनुष्य मात्र की कई तरह की प्रवृत्तियों की एक नयी तरह की खोजबीन की जा सके। और उस खोजबीन की रोशनी में, उन मानवीय मूल्यों को पहचाना जा सके, जो व्यक्ति और समाज के काम आ सकें।

क्रूरता वाली प्रवृत्तियों की पहचान अपनी तरह से कारनाड ने भी की, और विजय तेंदुलकर ने भी की। और कह सकते हैं कि इन दोनों नाटककारों ने, व्यक्ति और समाज को, कई तरह से परत-

दर-परत पहचानने की कोशिश एक नयी तरह से की। हाँ, दोनों के विषय, तरीक़े, और फ़लक अलग-अलग थे। कुल मिला कर यह कि कारनाड जिस पीढ़ी के सदस्य थे, उस पीढ़ी ने एक आधुनिकता-बोध के साथ, गहरी संवेदना और अंतर्निहित करुणा के साथ— सत्ता, समाज, व्यक्ति, को एक-दूसरे के आईने में देखने और दिखाने की कोशिश की। और इस पीढ़ी के नाटकों ने स्वयं भारतीय रंगमंच का चेहरा बदल दिया। जो भी, और जिस चीज़ की भी पड़ताल उन्होंने की, वह रंगमंच पर कई तरह से निखरी, और आधुनिक भारतीय रंगमंच को, उनके इन नाटकों ने, एक नयी मंच सज्जा के नये विधि-विधान के लिए प्रेरित किया। जब राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय के तत्कालीन निर्देशक इब्राहिम अल्काज़ी ने कारनाड के *तुग़लक* को दिल्ली के पुराने क़िले में किया तो लगा कि इस नाटक के साथ इसी तरह की प्रस्तुति न्याय कर सकती थी। स्वयं इब्राहिम अल्काज़ी के कामकाज में इस प्रस्तुति ने बहुत कुछ जोड़ा, जो तुग़लक नाटक की अनोखी बुनावट, उसके संवादों और उसके धारदार कथ्य की वजह से ही सम्भव हो सका। उसके फ़लक की वजह से भी। नाटकों को नये प्रदर्शन-स्थल मिलने लगे। सभागारों से उनका बाहर निकलना शुरू हुआ। उनकी वेशभूषा, मंच-सज्जा और आलोक-परिकल्पना को लेकर एक नया मंथन शुरू हुआ। स्वयं अल्काज़ी ने पुराना क़िला में ही *अंधायुग* का मंचन भी किया। और अनंतर भानु भारती ने मंचन के लिए फ़िरोजशाह कोटला के खँडहरों को पृष्ठभूमि के लिए चुना।

तुग़लक और *अंधायुग* जैसे नाटकों के साथ ओम शिवपुरी, सुधा शिवपुरी, नसीरुद्दीन शाह, ओम पुरी, मोहन महर्षि, रामगोपाल बजाज, मनोहर सिंह, उत्तरा बावकर, सुरेखा सीकरी आदि का क्रमश: थियेटर जगत में क्रमश: पदार्पण हुआ : चुनौतीपूर्ण भूमिकाओं के लिए साहस और विश्वास जागा।

यही बात सुपरिचित कन्नड़ लेखक अनंतमूर्ति के उपन्यास *संस्कार* पर आधारित इसी नाम की फ़िल्म के बारे में भी कही जा सकती है। कन्नड़ में ही बनी इस फ़िल्म की प्रमुख भूमिका में गिरीश कारनाड ही थे। और प्राणेशाचार्य के पात्र को उन्होंने सभी सूक्ष्मताओं के साथ अभिनीत किया था। इसने 'नये सिनेमा' या समांतर सिनेमा की दुनिया में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। इसको कन्नड़ सिनेमा के इतिहास में इसलिए भी याद किया जाता है कि यह पहली फ़िल्म थी कन्नड़ की, जिसको राष्ट्रपति का स्वर्ण-कमल पुरस्कार मिला। इसे पट्टाभिरामा रेड्डी ने निर्देशित किया था। निर्माता भी वही थे। इसी में समाजचेता अभिनेत्री स्नेहलता रेड्डी का भी अभिनय था। अत्यंत प्रशंसनीय। डॉ. राम मनोहर लोहिया उनके कामकाज से परिचित थे, और जहाँ तक मुझे याद है, डॉ. लोहिया ने *संस्कार* देख कर, उसे देखने के लिए औरों को भी प्रेरित किया था।

संस्कार को तो स्वर्ण-कमल मिला ही, स्वयं कारनाड ऐसे अभिनेता बने जिन्हें दस बार राष्ट्रीय पुरस्कार अभिनय के लिए मिला— कुल मिलाकर। फ़िल्मफेयर जैसे अवार्ड भी मिले। साहित्य की दुनिया, तो उनकी पहली दुनिया थी, वहाँ भी पुरस्कारों की लड़ियाँ-कड़ियाँ बनती चली गयीं। कन्नड़ साहित्य अकादेमी, केंद्रीय साहित्य अकादेमी से तो वे सम्मानित-पुरस्कृत हुए ही, ज्ञानपीठ पुरस्कार भी उन्हें मिला। पद्मभूषण से वे अलंकृत हुए थे। सत्ता प्रतिष्ठानों से पुरस्कृत होने के बावजूद वह अपने विचारों और गतिविधियों में प्रतिरोधी स्वर के अगुवा बने रहे। देश की बड़ी सांस्कृतिक संस्थाओं के वह एक समय अध्यक्ष रहे— संगीत नाटक अकादेमी के, पुणे के फ़िल्म ऐंड टेलीविज़न इंस्टीट्यूट के। लंदन के नेहरू सेंटर के निदेशक भी रहे। और जहाँ भी रहे, वहाँ उस संस्था को पर्याप्त समय देते रहे। वह वास्तविक अर्थों में ऐसे लेखक-बुद्धिजीवी थे, जो सामाजिक-सांस्कृतिक कार्यों को पर्याप्त समय देते हैं, और सार्वजनिक जीवन में भी ऐसा 'एकांत' ढूँढ़ लेते हैं, जो उनकी रचना-रुचियों को धूमिल नहीं होने देता। न ही सार्वजनिक जीवन के कामकाज की धार भी उनकी नज़रों से ओझल होती है। वे उसे भी चमकाए रखते हैं। ऐसा संतुलन और समर्पण एक विरल प्रतिभा के भी साक्ष्य हैं।

वे अपनी बात, अपनी तरह से कहने से चूकते नहीं थे। एकाधिक बार उन्होंने ऐसे विचार सामने रखे, जो राजनीतिक सत्ता को सुहाने वाले नहीं थे। विवादास्पद भी थे। पर, गिरीश कारनाड एक लेखक और बुद्धिजीवी की अंतरात्मा की बात ही कहते-सुनते रहे। कारनाड के इस वक्तव्य से ख़ासा विवाद पैदा हुआ था कि रवींद्रनाथ बड़े कवि तो हैं, पर, बड़े नाटककार नहीं। वी.एस. नायपाल को भी, उनकी भारत-दृष्टि के कुछ पहलुओं को लेकर, उन्होंने आड़े हाथों लिया था। पर, गिरीश कारनाड का क़द कुछ ऐसा था लेखक, बुद्धिजीवी और संस्कृतिकर्मी के रूप में कि उनकी विवादास्पद बातें भी, ध्यान से सुनी गयीं— भले ही उन पर सहमतियाँ-असहमतियाँ दोनों ही प्रकट की गयीं।

यह निरा संयोग नहीं था कि कारनाड ने जिन फ़िल्मों में काम किया वे किसी न किसी विमर्श, और प्रगतिकामी दृष्टि से जुड़ी हुई थीं। अगर *संस्कार* ब्राह्मणवादी व्यवस्था को प्रश्नांकित करती थी तो श्याम बेनेगल की फ़िल्म 'मंथन' एक सामाजिक क्रांति, और एक नये उद्यम की कथा कहती थी।

गिरीश के नाटक की ख्याति केवल राष्ट्रीय स्तर की नहीं थी, उन्हें अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी भारत के लेखकीय और थियेटर जगत का प्रतिनिधि माना जाता था। प्रतिवर्ष विश्व रंगमंच दिवस पर जो संदेश प्रसारित किया जाता है, दुनिया भर में, और प्रत्येक वर्ष जिसे किसी देश का कोई प्रतिनिधि नाटककार या रंगकर्मी लिखता है, उसे भारत के प्रतिनिधि के रूप में बस एक बार गिरीश कारनाड ने ही लिखा है।

उन्होंने मिथकीय पात्रों, और 'आज' के पात्रों को विषय बनाकर जो नाटक लिखे, और उन्हें जिस 'आधुनिक-बोध' और धारदार दृष्टि के साथ बरता, वह सब पाठकों-दर्शकों के मर्म को कहीं न कहीं स्पर्श करता रहा है। सोचने-विचारने की सामग्री देता रहा है। यह भी कम बड़ी बात नहीं है कि विभिन्न भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखकों ने या तो उनके किसी नाटक का स्वयं अनुवाद किया, या कारनाड को लेकर कुछ कहा-किया।

कारनाड को अपने नाटक *तुग़लक* के अनुवाद के लिए ब.व. कारंथ जैसा सुयोग्य रंगकर्मी मिला। उनके नाटकों को निर्देशित करने वालों में इब्राहिम अल्काज़ी के अलावा, देश के अनेक सुपरिचित रंगकर्मी शामिल रहे हैं, कई पीढ़ियों के। इनमें भी ब.व. कारंथ समेत, भानु भारती, अरविंद गौड़, दिनेश ठाकुर आदि कई नाम हैं, जो अल्काज़ी के बाद वाली पीढ़ियों के हैं। कह सकते हैं कि आज के तमाम ख़्यात अभिनेताओं/अभिनेत्रियों में भी प्राय: सभी ने उनके नाटकों में कभी न कभी अभिनय किया है। कारंथ तो हिंदी में *हयवदन* की प्रस्तुति के एक प्रमुख प्रयोगकर्ता रहे हैं। इसके लिए उन्होंने हिंदी के सुपरिचित कवियों कुँवर नारायण और सर्वेश्वर दयाल सक्सेना से गीत लिखवाए थे, जो बहुत लोकप्रिय हुए थे। सत्तर के दशक के आरम्भिक वर्षों में दिल्ली में *हयवदन* के मंचन ने एक हलचल मचाई थी। यह भी न भूलें कि विभिन्न भारतीय भाषाओं में, अंग्रेज़ी समेत, उनके नाटकों के मंचन भारत और दुनिया के कई शहरों में हुए हैं। और स्वयं उन नाट्य दर्शकों की कमी नहीं है, जो गिरीश कारनाड के नाटकों और उनके सांस्कृतिक कार्यों के प्रशंसक बने हैं। फ़िल्मों में भी उनके अभिनय को याद करने वालों की संख्या भी बहुत बड़ी है। यह अकारण नहीं है कि उनके न रहने के बाद इलेक्ट्रानिक मीडिया और प्रिंट मीडिया ने उन्हें कई तरह से याद किया है। अख़बारों ने, विभिन्न भाषाओं के अख़बारों ने, पूरे पेज के पेज उन्हें समर्पित किये हैं। ये सारी चीज़ें इसी ओर इंगित करती हैं कि, उन्होंने मिथकीय पात्रों, और 'आज' के पात्रों को विषय बनाकर जो नाटक लिखे, और उन्हें जिस 'आधुनिक-बोध' और धारदार दृष्टि के साथ बरता, वह सब पाठकों-दर्शकों के मर्म को कहीं न कहीं स्पर्श करता रहा है। सोचने-विचारने की सामग्री देता रहा है। यह भी कम बड़ी बात नहीं है कि विभिन्न भाषाओं के प्रतिष्ठित लेखकों ने या तो उनके किसी नाटक का स्वयं अनुवाद किया, या कारनाड

बचपन का दृश्य : माँ और भाई–बहिनों के साथ

को लेकर कुछ कहा–किया। हाँ, इस सबके प्रमाण समय–समय पर मिलते रहे हैं। बांग्ला के सुप्रसिद्ध कवि बुद्धिजीवी, ज्ञानपीठ पुरस्कार विजेता शंख घोष ने भी उनके एक नाटक का बांग्ला में अनुवाद किया है।

व्यक्ति रूप में, कारनाड के मित्र उन्हें हमेशा प्रेम और लगाव से याद करते रहे हैं। कारनाड से मैं स्वयं जितनी बार मिला, उनके गरिमामय और मानवीय व्यवहार से प्रभावित हुआ। एक बार हम एक विदेशी भूमि में साथ थे। सहसा कारनाड ने मुझसे पूछा कि अब आप यहाँ से कहाँ जाएँगे? मैंने कहा, 'नार्वे'। वहाँ मेरी छोटी बेटी रहती है। उन्होंने बेटी के कामकाज के बारे में कुछ पूछा, फिर कुछ गर्वित से स्वर में अंग्रेज़ी में मुझसे बोले, जिसका आशय था, 'ओह! वे (भारतीय संतानें) अब किस तरह दुनिया भर में छितर गयी हैं।' जब मैं संगीत नाटक अकादेमी की पत्रिका *संगना* का सम्पादक बना, और उन्हें कुछ लिखने के लिए आमंत्रित किया तो जवाब सकारात्मक और उत्साहवर्धक ही आया। जब उन्हें अंग्रेज़ी में अनूदित अपनी कविताओं का संग्रह भेजा, तो भी हाथ से लिखी हुई चिट्ठी आयी (वह अब भी मेरे पास है।) जाहिर है वह अपने कामकाज में बहुत व्यवस्थित थे। समय का मोल जानते थे। अनुशासन प्रिय तो थे ही। कारंथ से उनकी अनुशासनप्रियता के कई क़िस्से सुने भी थे।

वे ऑक्सफ़र्ड में भी पढ़े, रोड्स स्कॉलर वृत्ति उन्हें मिली। विदेशों में रहे। पर, बहुत गहरे अर्थों में उनकी जड़ें भारतीय माटी में थी। धारवाड़ के अपने युवा दिनों में सुप्रसिद्ध कवि–लेखक–अनुवादक–लोकचेत्ता ए.के. रामानुजम से अपने मिलने, और वहाँ के यक्षगान शैली में रमे वातावरण के बीच बड़े होने को वह कभी भूले नहीं। लोक–कथाओं और लोक–जीवन से भी संपृक्त रहे। *मालगुडी डेज़* सीरियल की भूमिका के लिए कोई उन्हें याद करता है, कोई किसी नाटक, या उनके रचे किसी पात्र के लिए। किसी को उनके किसी नाटक में किसी अभिनेता या निर्देशक के कामकाज की याद आती है—हाँ, वह आती ही आती है। आती रहेगी भी।

लेखकीय स्वतंत्रता के वे ज़बरदस्त हिमायती थे। और इस स्वतंत्रता की रक्षा के लिए एकाधिक बार वह मोर्चों और जुलूसों में भी शामिल हुए हैं। निश्चय ही लम्बी–ऊँची क़द काठी वाले गिरीश कारनाड की उपस्थिति, एक प्रेरक उपस्थिति बनी रही थी। उनकी स्मृति भी प्रेरक बनी रहेगी।